यहीं तक

हिन्दी ADDA

राजी सेठ

यहीं तक

जिस तेज़ी से वह थाली को धकियाकर उठा था, साफ था कि उस घटना से मेरे और पत्नी के बीच संवाद का पुल आने वाले कई दिनों तक टूटा रहेगा। गांठ कहीं पड़ती है, कसाव कहीं महसूस होता है।

ख़ास उसी के लिए ज्यादा टमाटर डालकर बनाई सब्ज़ी का शोरबा थाली से टकराकर चटाई पर एक चिकना पीला धब्बा छोड़ गया था और पास रखे गिलास को लुढ़का गया था।

आज कितने...कितने ही दिन बाद वह मेरे साथ खाने बैठा था। नहीं तो ज्यादातर वह बरांडे में पड़ी काठ की मेज के आगे पीढ़ी जमाकर खाने बैठता है। अकेला। अपने भाई-बहनों के संग-साहचर्य से अछूता। उन सबको अपनी-अपनी उम्र की सड़कों पर खेलता-कूदता छोड़कर पता नहीं वह किस तरह इतनी जल्दी आगे चल निकला है! किसने थमा दिए हैं उसके हाथ में इस तरह के प्रश्नों के चाकू!

इस भीड़-भरी गिरस्ती में जब मैंने उसकी उठान पर ध्यान दिया तो उसे उसी तरह बेचैन ही पाया। पल-पल कोंचता। प्रश्न पूछता...घर में कब-कब, क्यों और कैसे होता है? हमारी हैसियत के भीतर क्या है, बाहर क्या? क्यों आज शन्नो की गोलक तोड़ी जाती है और कल शाम को बादाम की ठंडाई पिसने लगती है? क्यों आज चप्पल खरीदने से इनकार होता है और कल जूता खरीदने की रजामंदी रुख में दिखाई देने लगती है? क्या कारण है कि दौड़ती हुई योजनाएं ठिठक जाती हैं और ठिठके हुए इरादों को एकाएक पंख लग जाते हैं? किसलिए इतना लचीला है सब कुछ आस-पास...अनुमान और नियंत्राण से परे...?

उसकी आंखों में जिज्ञासाओं का एक हजूम और उसकी मन:स्थिति अंडे के भीतर के द्रव की तरह अस्थिर...जिसे स्थिर करने का जिम्मा नीचे तपते ताप का होता है। इस ताप के स्वभाव को स्थिर न कर पाने के कारण वह उलझता है। ...बात-बात पर डांवाडोल...हर मुद्दे को अपने हाथ में ले लेने को आतुर...अपनी वयस्कता पर ज़रूरत से ज्यादा आत्ममुग्ध। उसे लगता है कि वह अब वयस्क हो गया है, बल्कि वयस्क से भी थोड़ा अधिक। भाई-बहनों से अधिक पिता के खेमे में। पिता के प्रति आदर को आहत किए बिना घर के केंद्र में आ जाने का एकमेव अधिकारी।

वह नहीं जानता, घर के केंद्र में होना क्या होता है। अपने पर खिंचे एक चतुर्दिक को सहना होता है। हाथ ही हाथ होते हैं चारों तरफयाचक। कोंचते हुए। आंखें-ही-आंखें भर्त्सना करती हुई, प्रश्न पूछती हुईक्यों उनके पास वह सब नहीं है जो दूसरों के पास है? क्यों रूखी रोटी है, रोटी पर पिघलते मक्खन की तरावट नहीं? क्यों कमरे हैं, ड्राइंगरूम, बेडरूम नहीं? खरखरी खाटें हैं, पलंग और सोफे नहीं? यह सब मात्रा उससे पूछा जाता है जो केंद्र में होता हैघर का अकेला आक्रांत मुखिया।

वह कैसे जानेगा केंद्र में कर्म अपना होता है, फल दूसरों के लिए? हार अपनी, पुरुषार्थ दूसरों के निमित्ता...

अभी तो वह बी.ए. के अंतिम वर्ष में ही है। गत वर्ष ड्रॉप न कर दिया होता तो डिग्री मिल चुकी होती। ड्रॉप करने की बात भी मुझे तो ऐन परीक्षा के समय पता लग पाई

थी। मैं नहीं जानता था कि वह पूरा साल पढ़ाई के साथ-साथ दो-तीन टयूशन और किसी प्राइवेट कंपनी के बिलिंग सेक्शन में पंचिंग का काम भी करता रहा था, इसीलिए परीक्षा की पूरी तैयारी नहीं कर पाया था।

स्पष्ट था, उसने इस जानकारी से मुझे अलग रखा था। जान-बूझकर। दंड-सा देते हुए। जताते हुए कि यदि मैं अपने चारों ओर घेरे खींच सकता हूं तो वह भी उस घेराबंदी के उतना ही समर्थ है।

उसके और मेरे बीच यह गंध? होड़ और हिंसा? ...नहीं। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगा था। मेरी ओर से घेराबंदी अगर थी तो उसमें उसके लिए दंड नहीं था, सावधानी थी। उसे अपने से ही बचा सकने की सावधानी...

इतना ही था जो मैं उसके लिए कर सकता था। करना चाहता था। वही मुझे दरकार था। ...उसकी उठान को मैं दरगुज़र कर देना चाहता था। उससे मिले दिलासों के प्रलोभक सेंक के बावजूद।

"ड्रॉप किया...चाकरी करते रहे और मुझे बताया तक नहीं," मैंने उससे पूछा था, "...मर गया था मैं? ...अपाहिज हो गया था?"

इसका उत्तार उसने नहीं, उसकी मां ने दिया था, "यह आड़ तो तुम्हीं ने रखी है, तुम उसका भरोसा नहीं करते तो वह भी..."

वह वहीं, उसी कमरे में चुप खड़ा था, चौखट से लगा। जैसे बरसते पानी के नीचे काठ का कोई टुकड़ा पड़ा भीगता हो।

उसकी यह बेलाग-सी लगती मुद्रा मुझे छील गई। मुझे लगा था यह सब कुछ सायास है। मुझे मेरी ही छड़ी से सिखाने की कोशिश...कुछ भी हो, मैं पिता था...कर्ता...घर का मुखिया और वह? ...उसका आचरण? कहां तो घर के केंद्र में आ जाने की ऐसी बेहिसाब व्यग्रता, कहां इतने पर्दों के पीछे काम करने की ऐसी मनमानी, ऐसी खुद्दारी।

इस एहसास ने मुझे चिढ़ाया था, अपने भीतर लौटाया नहीं।

"मैं क्या पूछ रहा हूं?" मैंने जान-बूझकर उसकी ओर उन्मुख होकर कहा था, "मुझे कहने-सुनने की कोई जिम्मेदारी नहीं थी तुम्हारी? ...इतनी बड़ी बात हो जाए और मुझे पता तक न लगे।"

"कहने-सुनने का सिस्टम इस घर में है कहां। सबके अपने-अपने गढ़ हैं," उसने बेहद दबी जबान से उत्तार दिया था।

"और इस सबके अगुआ तुम हो," यह उसकी मां थी। वही सबसे अधिक क्षुब्ध रहा करती थी, दबे उत्ताप को उगलने को सतत तैयार।

तभी वह मुझे कमरे से बाहर चल पड़ने को तत्पर-सा दिखा था। मैं तप गया था। उसी के कारण यह झड़प और उसी की ऐसी अडोल अलिप्तता।

"बैठो," मैंने उसके आगे बढ़ते पैरों को उसकी आस्तीन खींचकर रोक लिया था। अप्रस्तुत होने के कारण पहले वह लड़खड़ाया, फिर पास रखे स्टूल पर बैठ गया धम्म से। साफष् था कि मेरे इस तरह रोक लेने की खिसियाहट उस तक हिंसा की नकाब लगाकर पहुंची थी।

उसकी मां तो बिलकुल बिलबिला गई थी। क्रोध में थरथराती हुई। बेटे की पूरी तरह पक्षधर। "बाप का जूता बेटे के पैर में अंटने लगता है तो बेटा दोस्त कहलाता है और तुम...तुम? ...तुम्हारा तो विवेक मर गया है।"

उसकी मां का इस तरह का कुछ भी कह देना मुझे सदा शमित ही करता है, बेबस। मैं दौड़ता हुआ लौट आता हूं।

विवाद का सिरा मैंने खुद ही नीचे धर दिया था। मुझे यही सुविधाजनक लगा था। मैं उन्हें भी नहीं समझा सकता था कि पानी जब बहने लगता है तो अपने नीचे की ज़मीन के रंग का ज्यादा आभास देने लगता है, अपने उद्‌गम की निर्मलता का नहीं। कैसे कहता, उद्‌गम कहां है इन सब बातों का...मेरे दिलो- दिमाग़ के किस हिस्से में! मैं खुद ही उठ गया था।

बाहर जाते ही मैंने पत्नी को पुकारा था, "कम-से-कम तुम तो उसे आवारा होने से रोक सकती थीं।"

वह आहत हुई सो तो हुई, उसकी त्यौरी मैंने चढ़ती देखी तो आगे टहल आया। जानता था, मेरी भभकी खाली भभकी है, पानीदार दूध पर आई झिल्ली की तरह बेईमान। भीतर कहीं जानता था, यह ड्रॉप करना आवारगी के कारण नहीं, प्रथम श्रेणी को बनाए रखने के हकष् में हुआ होगा। इस मामले में वह मुझसे ज्यादा समझदार थाशुध्द वास्तविकतावादी। अपनी क्षमता को अपने परीक्षाफल की श्रेष्ठता में से ही अर्जित करना चाहता था। जानता था कि उसके पिता की हैसियत की जेब में सोने के से संबंधों

वाले सिक्के नहीं हैं, जिसे वह बेटे की उन्नति के हकष् में कभी भी भुना सके। झाड़-फानूस के बिना की नंग-धड़ंग हेडक्लर्की थी जो और कुछ करे या न करे, अपने अनुभव और निपुणता की आड़ में सामने वाले की ढांप-ढूंप को उघाड़ पाने का भय अवश्य पैदा कर लेती थी।

उसके बाद कई दिन तक चुप्पी रही थी। एक आंख बचाता हुआ-सा पारस्परिक भाव। मुझे इस छोटी-सी झड़प ने अधिक उखाड़ा था, अधिक बेचैन किया। वे दोनों तो जहां के तहां थे। उसी अछूते तरीके से एक-दूसरे के साथ-साथ।

समझ गया था, मेरी मंशा ही मात्रा उलटी होकर नहीं पड़ती, मेरी नियति में उन दोनों का दिया तिरस्कार भी दर्ज हो जाता है। ...चाहे मूक, चाहे मुखर।

इतना साफष् दिख जाने पर भी इस स्थिति ने मुझे डोलाया नहीं था। उनका साझीदार बनकर इस तिरस्कार से बच निकलने की कोई इच्छा मेरे भीतर जागी न थी। कुछ भी हो हर हाल मैं उसकी पहुंच से परे रहने को था, चाहे अपने क्षोभ और क्रोध के चरम पर खड़ा वह मेरे विरुध्द अपने हथियारों को कितना भी पैना करता दीखे।

कुछ नहीं था मेरे पास बांटने को...जेठे राम का अभिषेक करके दशरथ की भूमिका में अपने को रख लेने को।

एक अकेला अपना ही रास्ता था अपने सामने। एक अभिशप्त केंद्र...अपनी ही आस्था और विश्वास से रीता।

मेरी बात और थी।

मुझे केंद्र में रख दिया गया थाबिना चाहे, बिना पूछे। बाबू भजन-कीर्तन में रहते थे, उन्हीं दिनों से ही, जब मां कहती थीं, वह मेरे खेलने-खाने के दिन थे। उनकी आंखों में एक नशा-सा रहता था हरदम। उखड़ा ध्यान...बातें ऐसी करते थे जैसे सारे वेद-पुराण को घोंट-पीसकर पी चुके हैं।

घर, बाहर, चौपाल, बरगद के नीचे मेले लगा करते थे लोगों के। वह नहा- धोकर स्नान-ध्यान, अर्चना-उपासना की दत्ताचित्ता देहरियां लांघकर एक लोटा दूध चढ़ाकर आ बैठते थे लोगों के बीचोबीच। ...उस दूध से उतरी मलाई जो मां अक्सर बचा लेती थी, उनके चले जाने के बाद हम लोगों को पास बुलाकर चटाया करती थीअंगुली-अंगुली।

एक दिन ऐसा करते-करते वह अंदर आ गए थे तो मां ने साड़ी की चुन्नटों के नीचे सरका दी थी कटोरी। कुछ भी समझ में नहीं आया था। बाबू खंखारते हुए कुल्ला करके चले गए थे बाहर...मां ने उसी कटोरी में एक चुटकी चीनी और मिलाकर, उसे और पतला करके और प्यार से हम लोगों को चटाना शुरू कर दिया था।

बाबू को वहीं बैठने का ठरक था। उन्हीं-उन्हीं जगहों पर। उन्हीं-उन्हीं लोगों के बीच। तथाकथित भक्तों की श्रध्दा से लबालब आंखों के सामने। आत्ममुग्ध। कीर्तन और प्रवचन। प्रसाद और भभूत, समस्याएं और समाधान...वह भी लोगों के...बाबू को तो यह भी पता नहीं था कि घर में...उनके अपने घर में...उनका तो दूध पीकर, फल-मेवे खाकर काम चल जाता था।

एक दिन वह चल निकले। बड़े बरगद के नीचे पुरानी धर्मशाला में साधुओं की टोली एक रात के लिए टिकी थी। उन्हीं के साथ। कहकर तो गए थे कि हरिद्वार जाकर लौट आउं+गा, पर आटे में नमक की तरह वहीं खप गए। उनके गंगा-स्पर्श पावन पैर फिर कभी नहीं लौटे।

बाहर के, आसपास के, पड़ोस के लोग उन्हें देख पाने को बेचैन रहे। उनका अभाव उन सबों ने हम सबसे ज्यादा ही महसूस किया। ठीक भी था, वह सब बाबू को आदर-प्यार देते थे, केवल कुछ शब्दों के बदले और हम सब...हमारी याचक आंखें और फैली हुई हथेलियां...

मां मशीन चलाने लगी थीं उनके जाने के बाद। सुई में तागा मित्ताी डालती, सत्ताो मशीन का रेला फेरता। कपड़ा मां सिलतीं। सिलकर ताक में रख देतीं। अक्सर सर्रो लोगों के घरों में कपड़े पहुंचाने जाती। कभी-कभार मां भी...भगतजी की पत्नी। वह पहुंच जाती तो लोग गद्‌गद हो जाते...आखिर भगतजी के घर का पैर... "बड़ी पुण्य वाली हो बहन...भला ऐसा कहां होता है कि जीते- जी मोह-माया, तृष्णा से किसी को मुक्ति मिले...अरे, उं+ची आत्मा रही भगतजी की, कहां संसार के बंधनों में फंसती!"

हां, उं+ची आत्मा थी भगतजी की...सांसारिक बातों के बीच कहां अंटती! उन्होंने हमें नहीं सहा था पर हमें तो उन्हें सहना ही था...जब वह थे तब भी उनकी शर्तों पर और जब नहीं थे तब भी उन्हीं की दी हुई स्थितियों के बीच।

गोपू की गाय का दूध जो भगतजी के लिए मुंह-अंधेरे आ जाया करता था, बंद हो गया। ...फल, मेवे, घी सब बंद। कभी-कभी टेकड़ी वालों के बाग से बहुत-से अमरूद उतर जाते तो...वह सब याद करने का अब जी नहीं होता।

मां पता नहीं मुझे कैसे-कैसे देखने लगी थी...असल में मुझे देखने में उसे उतना झुकना नहीं पड़ता था जितना सत्ताो और किशना को। मैं उन सबसे लंबा था...मां के झुके हुए कंधों के लगभग बराबर।

"क्या कहना चाहती हो मुझसे?" मैं क्यों उससे पूछता। मैं...मैं...वेदों- पुराणों की गहनता को समझने वाले भगतजी का बेटा...पांच भाई-बहनों में सबसे बड़ा भाई...मशीन फेरती मां का जेठा।

अब घर में रोटी लेकर मां को मेरी बाट जोहते बैठे रहना नहीं पड़ता था। भुने चने, भुट्टे, केले, अमरूद सड़कों पर बहुतेरे मिल जाते थे।

उन्हीं दिनों कोई हरिद्वार से तीर्थ करके आया था। बाबू के वैभव और संयम की कहानियां पोटली में साथ बांधकर, जिसे गद्गद होकर हमारे आंगन में बिछा दिया गया था।

"क्या बताएं बहन! फलों के मेवे के ढेर लगे रहते हैं। दूध, दही, शहद, घी के मटके भरे रहते हैं, पर भगतजी? ...न! न! मजाल है आंख उठाकर भी देखें...।"

वह भरे पेट की निरासक्ति...बाबू का न्याय अपूर्व था।

मेरी बात और थी...

मैं कुएं के से भुतहे खोखल में रख दिया गया था जल्दी ही। बाहर कुएं की पथरीली मेंड़ पर थेसबके चेहरे। घूरते, मांगते, कोंचते। उन सबमें से हर कोई याचक थाभिखारी। मां की आंखों में कभी-कभी चमक उठने वाली वत्सलता की चौंध के सिवा।

अक्सर मां का डरा हुआ हाथ पीठ पर पड़ जाता था। जैसे समझाना चाहती हो, यह शाबाशी घर में इस कदर उपयोगी हो उठने वाली मेरी मर्दानगी के लिए नहीं, रास्ते की थकान हरने के लिए है। बस! ...ऐसे ही किसी क्षण में, मुंह उठाकर देखना अच्छा लगता था, चाहे उन झुर्रियों में चीख़ती आराम की चाह और खाली खोखल आंखें अक्सर मेरे रास्ते में अड़ जाया करती थीं। मुझे लगता था, मां मशीन चलाना अब बंद हो जाना चाहिए।

मुझे लगता था, घर-घर जाकर क्लीनिंग पाउडर बेचना छोड़कर सत्ताो को अपना दाखिला भर देना चाहिए।

मुझे लगता था, मित्ताी को अब बिना किसी विलंब के वहां भेज देना चाहिए जहां से पेड़ों और पक्षियों पर टंगी उसकी भटकती निगाहों को ठौर मिल जाए। वह साबुन वाले लड़के द्वारा पाए प्लास्टिक के मनकों वाले हार की अवहेलना कर सके।

किशन और सर्रो...उनके बारे में सोचने का जी नहीं चाहता था। कोशिश करो तो सिर के ऊपर की छत बित्ताा-बित्ताा नीचे धसकती घोंट देने की धमकियां देने लगती थीं।

मेरे लिए ज़रूरी थाएक-एक कष्दम सोचना। वामन का पग मेरा नहीं हो सकता थाबाबू से मिले संस्कारों और दैवीय विश्वासों के बावजूद। दिव्य-भव्य जो कुछ भी था, वह बाबू के लिए था, मेरे लिए नहीं। मेरे लिए थीठोस कंकरीली-पथरीली ज़मीन। और फिर एक दिन...

एक दिन कोई आया था और मेरी देह पर लगी खरोंचों की दाह को लेप देने के लटके देने लग गया था।

मैं कोई अफसर नहीं था कि बड़ी-सी मेज़, कोई चपरासी, एक अदद टेलीफषेन और आदेश देने का हकष् मेरे अहं को रुतबा देने के लिए मुझे हासिल होते।

हर समय फाइलों के ढेर पर झुकी रहने वाली मेरी गर्दन का विद्रोह, रीढ़ के रास्ते उतरता-उतरता काठ की कुर्सी पर जमे मेरे नितंबों तक पहुंचते अपना नाम बदल लेता थादर्द!

एक दिन मां ने फटी-पुरानी धोती तहाकर प्लास्टिक की थैली में डालकर गद्दी बना दी थी। देह राजा हो गई लगी थी उस दिन।

वह आया था। मेरी पीठ पर हाथ रखकर, मुझे टोहकर, अपने नाम की फाइल की तरफष् इशारा करके मुझे लिवा ले गया था। दफ्तर के सामने के स्टाल से उसने ख़ूब ज्यादा दूध डलवाकर भभकता हुआ चाय का एक प्याला बनवा- कर मुझे नज़र किया था और पनीर के पकौड़ों से लबालब भरी एक प्लेट। कैप्स्टन का एक सिगरेट उसने मेरी उंगलियों में खोंस दिया था और मेरी मुट्ठी में दाब दिया थाएक गड्डी सुख।

मैंने अपनी मुट्ठी भींच ली थी। पहले लगा था, मैं तैयार नहीं हूं, पर मैं असल में तैयार ही था। एक सतही हिचकिचाहट के बाद। उस रात मैं सो नहीं पाया था। अंधेरा मुझे बड़ा निर्मम लगा था। सुबह उठने पर जान में जान आई थी। सुबह में सेंक था। रोशनी थी। चीज़ों के सही आकार-प्रकार दिखाकर अंधेरे के भय-भ्रम को तोड़ सकने की शक्ति।

जल्दी ही लगने लगा था, मैं यहां उतना अकेला नहीं हूं। दूसरों के विश्वास को पा सकने का नायाब हथियार मुझे हासिल हो गया है। मुट्ठियां झाड़ दी थीं मैंने उन सब पर...कृपाओं की बरसात बनाकर।

वे सब भीगे। तृप्त हुए। आकंठ डूबे। उनके चेहरों पर लिखी इबारतें पढ़ता-पढ़ता मैं भूल गया था उस निर्मम अंधेरे में अकेला जागते होने की बात...हवा में डोलती बाबू की दी वेद-पुराणों की सदाचारी सीखें। विरासत के बोझ को मैंने फालतू समझकर झाड़ दिया था।

अब तक बाबू ने मुझे नाकाम किया था। मैं पहली बार उन्हें नाकाम कर पाया था। उनकी ज़रूरत का, उनके स्मरण और आचरण का अतिक्रमण करके।

धीरे-धीरे मां की मशीन छूट गई थी। वह अब बरांडे में सफेद कलफदार धोती पहने पीढ़े पर बैठी दीखतीं...यह शुभ्र भव्यता पहले कहां छिपी बैठी थी? सत्तो ठेकेदारी करता अब शिलांग में रहता था। सर्रो और मित्तो अपने संसार में कब की खप चुकी थीं। किशना के बारे में सोचने में डर नहीं लगता था। वह अपनी छोटी-सी दुकान में फल बेचता अक्सर मेरी दूसरी बांह होने का भ्रम पैदा करने को होता था, पर चुप हो जाता था। शायद अपने घर की लगाम के अनुशासन में लौट जाना उसके लिए ज़रूरी था।

सबने चुपचाप ले लिया था और मुट्ठियां बंद कर ली थीं। सवाल नहीं किए थे। हिसाब नहीं मांगा था। जो मिलता गया था, उसे स्वीकारते गए थे। पहले कृतज्ञता से, फिर सुविधा की सभ्यता से और अंततः अधिकार की ठसक के साथ।

एक वह ही थातेजस्वी माथे वाला वह...चमकीली निडर आंखोंवाला वह...मेरे ही शुक्राणुओं में से जन्मा...प्रश्नों के बेदर्द नेजे हाथों में लिये मेरा ही साक्षात् सामना करता हुआ वह।

वह मुझे भी मशीन के सामने बैठी मां की तरह उठा देना चाहता था। उसके हिसाब से मैं बौखलाया हुआ थाउलझा और अस्थिर जाने कैसी-कैसी भूलों के लिए मजबूर!

उसके विचार से घर की एक बेहतर रूपरेखा हो सकती थी, जो मुझसे

पता नहीं क्यों नहीं सधती थी। मैं...मैं शायद बूढ़ा हो गया था। (वह अपनी मां से पूरी चिंता और गंभीरता से कहता रहता है।) अपने हिस्से से ज्यादा मेहनत-मशक्कत कर चुका था। मेरी सांस उखड़ती थी। मैं लपककर चल भी नहीं पाता था।

उसके ख्याल में मेरे थके-मांदे देह-मन को पूरी तरह जवान हो गए बेटे के पुरुषार्थ के अधीन हो जाना चाहिए और एक समझदार व्यक्ति की तरह परिधि पर आ जाना चाहिए। बड़े पुत्रा को केंद्र में आ जाने का विश्वास और अधिकार देते हुए। मिल सकनी चाहिए उसे अपने पिता की विरासत। सुख-दु:ख का पूरा लेखा-जोखा...इस घर की दीवारों पर लिखे गए इतिहास का बयान और ज्ञान।

पर यही सब तो है जो उसे नहीं दिया जा सकता। नहीं बताया जा सकता उसे यहां तक...पहुंचने का रास्ता। इस तरह सुखों-सुविधाओं को पा लेने की विजयगाथा। नहीं बताया जा सकता कि कैसे मैंने अपनी पीठ पर उस चालाक दबाव को पहचानते हुए भी...दूध के रंग की लबालब चाय का आशय समझते हुए भी...हां, समझते हुए ही। नहीं, उसे नहीं बताना है एक पस्त घबराए हुए आदमी का ज़िंदगी से इस तरह का समझौता...कोई दूसरा रास्ता न बना पाए होने की हड़बड़ाई हुई नरमजान असमर्थता।

वह नहीं जानता, मैं सच में नहीं चाहता कोई भी भागीदार...नहीं चाहता कोई वारिस...नहीं चाहता रास्ते पर अपने कदमों के निशान...इस इतिहास को यहीं इसी जगह, मेरे साथ दफन हो जाना होगा। चाहे मेरा यह रवैया उसके और मेरे बीच तनाव के कितने ही चक्रव्यूहों की रचना करता रहे।

आज भी मैं उससे कतई उलझना नहीं चाहता था। कितने ही दिनों बाद वह मेरे साथ खाना खाने बैठा था। मैं भरसक बचने की चेष्टा कर रहा था, चाहे माहौल में कुछ वैसी ही आंधी के तेवर तने लग रहे थे। उसने मुझसे स्कूटर बुक कराने की बात कही थी। मुझे अच्छा लगा था। वह कुछ मांग रहा हैमुझसे। अपने पिता से।

"हो जाएगा," मैंने भरसक निरुद्वेग आवाज़ में कहा।

"ऐसी कोई ज़रूरत नहीं है। मैं कर लूंगा। आपको बता दिया...आपने पिछली बार शिकायत की थी।"

तो यह सूचना थी! पिछली बार के उलाहने का प्रतिकार! "क्या कर लोगे?"

"कुछ भी...अपनी समझ से..."

"अपनी समझ तो इतनी ही है न कि ड्रॉप..."

"यही सही। आपने कौन-सा कभी समझाने की कोशिश की है? इस घर की पर्दादारी में तो यह समझ में ही नहीं आता कि कौन-सी मांग जायज है, कौन-सी नाजायज़, कौन-सी चीज़ हकष् में मिल रही है, कौन-सी भीख में..."

"तुम्हें आम खाने से मतलब या पेड़ गिनने से**?**"

"जो घर को घर मानकर रहेगा, उसे पेड़ गिनकर आम खाने पड़ेंगे," अपनी आवाज़ की सख्ती छिपाने की उसने कोई कोशिश नहीं की।

"...मैं तुम्हारा बाप हूं या तुम मेरे बाप?" मैं शायद उसकी ललकार का सामना न कर पाने के कारण उद्गम को छोड़ नालियों की तरफष् चल निकला था।

उसने भी अब तक की लिहाज़ की ओढ़ी हुई चादर को उतार फेंका**!**

"न आप मेरे बाप हैं, न मैं आपका बाप। आपके-मेरे बीच कोई असली रिश्ता बनता ही नहीं। ...रिश्तों के नाटक हैं सारे...आपकी अपनी दुनिया है, अपने किष्ले...आप पालते हैं, हम पलते हैं...आप टुकड़े देते हैं और हम खाते

हैं क्योंकि...क्योंकि हम कुछ और कर ही नहीं सकते..बेबस हैं...नाकारे और पालतू..." कहकर उसने थाली को एक ही झटके में आगे धकिया दिया था।

कई रंगों के इस उफषन को झेलते उसका पतला-सा चेहरा एकाएक गड्ड- मड्ड हो गया था। एक अधबनी-सी दयनीयता उसके होठों पर थरथराकर उसकी तमतमाहट को झूठा कर गई।

वह उठ गया था। सब्ज़ी के शोरबे से सने हाथ कांपते से, "इस घर में बस आप ही आप हैं। बाकी सब टुकड़ेखोर...पालतू...एडोलसेंट..." कहता हुआ वह वैसे ही जूठे हाथों से बाहर निकल गया। शोरबे के पीले चिकने धब्बों को हम दोनों के बीच घूरता छोड़कर।

मुझे लगा, उसकी मां लपककर उसके पीछे जाएगी हमेशा की तरह, पर वह वहीं-की-वहीं बैठी रही। सन्नाटे में। चेहरा उलाहने के गाढ़े-गाढ़े धुएं से

धूमिल**...**

उसके इस उपालंभ-पुते चेहरे का मैं आदी हो गया हूं। उसे खूब-खूब अबूझ लगती हैं ये बातें। उसके हिसाब से मैं घोर अहंकारी हूं। नियम और व्यवहार का हत्यारा। यह हकष्

तो हर गए-गुज़रे को भी मिल जाता है अपने आप...और वह? 'ऐसा हीरा लड़का!' ऐसा क्या है कि अपने ही घर में रहते कोई इतना बेगाना महसूस करे...

मेरे पास इन बोले-अबोले उलाहनों का कोई उत्तार नहीं। सीधे-स्वाभाविक हकष् के पक्ष में खड़ा होकर अपने नंगेपन तक पहुंच जाने का साहस भी नहीं। कैसे कहूं कि उस भरोसे को पैदा करने की मेरे भीतर कोई चेष्टा नहीं...मुझे नहीं चाहिए था कोई वारिस...नहीं चाहिए...उसकी उजली अछूती अस्मिता का आत्मदान...किसलिए मैं किसी के भविष्य को विरासत के अंधकार के नाम गिरवी रखता फिरूं? ...इसका मुझे कोई हकष् नहीं...वह मेरा बेटा है तब तो और भी नहीं...कुछ दिन बाद वह भी समझ लेगा, उसका पिता नहीं था कोई, जैसे मैंने समझ लिया था।

"लो! यह भी खा लो," उसने बेटे की थाली में पड़ी दूसरी अनछुई रोटी को उठाकर मेरी थाली में पटक-सा दिया है।

इस पटकने से उसने जो काम लिया है, उसे मुंह से लेना चाहती तो शायद अपनी ज़रूरत के शब्द ही न जुटा पाती। और मैं भी...और कोई प्रसंग होता तो दो-चार झापड़ रसीद करता। यह मेरा घर है। मेरे स्वामित्व के गले में कुत्तो के से व्यवहार का पट्टा? ...नहीं, यह नहीं हो सकता था। पर हो रहा था। मैं होने दे रहा था।

मैं खाता रहता हूं। मुंह में पड़े अन्न के बे-स्वाद लोंदे को चबाता रहता हूं। अपने बचाव की कोई और ढाल मेरे पास नहीं है और उतना उखड़ जाना भी मेरे पक्ष में नहीं है।

"तुम भी खा लो," मैं सहजता का हाथ उसकी तरफष् बढ़ाता हूं।

वह झन्न से अपनी कटोरी में परोसी सब्ज़ी कुकर में पलटकर मेरे सुझाव की अस्वीकृति को और बड़बोला कर देती है।

"कुछ खाया नहीं होगा सुबह से...आज मंगल हैक्यों नहीं..."

पर यह सहानुभूति उस पर औंधी होकर पसरी। वह और व्यग्र हो जाती है। अव्यक्त क्रोध में बार-बार घुटनों में खोंसी जाती साड़ी की चुन्नटों को एकाएक आज़ाद करके उठ खड़ी होती है और लपककर बाहर निकल जाती है।

हाथ धोने उठता हूं तो उसे बेटे की खाट के पास ज़मीन पर बैठे पाता हूं। मुझे देखते ही वह पास रखे भूरे स्वेटर को उधेड़ने का कोई छोर ढूंढ़ने का नाटक करने लगती है। एक संधिहीन ख़ामोशी...

बेटा नहीं तो बेटे की खाट। खाली खाट। वह दृश्य मुझे जाने कहां झोंक देता है।

इस समय तो मुझे वही विराट होकर दिख रही है। खाली खाट के पास ज़मीन पर सिर झुकाए बैठी...घुटती हुई...भूखी-प्यासी, उपासी, आहत।

मेरे भीतर कहीं कुछ दरका है। अचानक। बिना चेतावनी के।

"अंदर क्यों नहीं आ जाती?" वह वैसी की वैसी बैठी रहती है।

"आ जाएगा! कोई पहली बार ही तो नहीं न..."

"हो जाएगी किसी दिन आख़िरी बार...तब तुम," वह बोली थी आक्रमण की इच्छा से, पर फलांगते आते अशुभ कथन के आवेग से खुद ही घबरा गई।

मैं वहीं टहलता रहता हूं। शायद...शायद उसकी मौजूदगी की मजबूरी से बंधा। उसे क्या पता...आज कितने बरसों बाद इस शिला को तनिक सरका देने की इच्छा हुई है। उसे कह देने की कि क्यों नहीं...किसलिए नहीं...वह मेरा बेटा है तब तो एकदम नहीं। वह उसकी मां है तो क्या मेरी पत्नी भी तो है...

छाती पर अड़ा बैठा वह जमाव खिसकना चाहता है। शायद पहली बार। हो सकता है ऐसी आवृत्तियों की संभावनाओं का डर भी इसमें शामिल हो। देखते-देखते वे दोनों एक मोर्चे में तब्दील हो जाते हैं। मेरे विरुध्द...तने हुए। मेरे तनाव के प्रत्युत्तार में। वह समझ सकेगी, मेरे लिए यह दूरी, यह तनाव क्यों ज़रूरी है। यदि तनाव बना न रहे तो मोर्चाबंदी टूट सकती है। रिश्ते की नज़दीकी के उत्ताप से।

वह चाहे तो देख सकती है कि चाबुक तानी ज़रूर जाती है पर मारी तो नहीं जाती। इसका गवाह उसके बेटे का शरीर है...उसका मन...उसकी आत्मा

...उसके भीतर उफष्नते आलोक का झरना। अपने संघर्ष में से रास्ता बनाने

...अपने पैरों पर सीधे खड़े होने की वैसी तड़प क्या देखी है कभी...कहीं और?

वह क्यों समझती है कि उसका बेटा किसी की दया का मोहताज है...पालतू और बेचारा? कितनी दूर तक ठान लेता है अपने बूते। उसके पास मोहलत है...हिम्मत है...सिर पर घनी घनेरी छांह। अभी तो उसके पैरों में ताकत पनप रही है...आंखों में उजला स्वच्छ आकाश...आसपास खूब-खूब खुली धूप। उसे क्या पड़ी है कि वह मेरे बनाए दरवाज़ों से जीवन के आंगन में प्रवेश करे?

चाहता हूं, जो उसने नहीं देखा वह उसे देखे। उसे भी सहज हो सके सहनाज़ैसे मुझे। उस आहत दया की फुहारें छोड़ती सड़ी-गली ममता को भूल- कर...

"उठो तो...," मैंने फिर उसकी बांह पकड़ी है। झुककर। अपने पंजों पर उसके पास बैठते हुए।

"मुझे मत छुओ," अपनी बांह झटकते हुए उसने मुझे परे धकेल दिया है और दांत पीसते हुए लपककर खिड़की की चौखट से जा लगी है।

दांत पीसता हुआ उसका यह रौद्र रूप...खाली खाट के पास आहत प्रतीक्षारत बैठी स्त्री की छवि को निग़लता जा रहा हैझड़प से।

मुझे खुद ही लग रहा है, सांझेदारी की इच्छा की वह घड़ी टल जाने को है...टल रही है। भाग रही है बेतहाशा...पीछे देखे बिना।

कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं एक इतिहास से लोहा लेते-लेते दूसरे इतिहास की गिरफ्त में आता चला जा रहा हूं।